विष्णुपुराण-तत्त्वदर्शन

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी
अध्यक्ष व्याकरण विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

र विद्या निकेतन
दैनी, वाराणसी
१९८६

विष्णुपुराण-तत्त्वदर्शन

श्रीमते पण्डितप्रवराय डा० सत्यव्रत
शास्त्रिणे सादरमिदं
उपायनीकृतं
रामाधीनचतुर्वेदिना
२०।२।८५

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी
अध्यक्ष व्याकरण विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

किशोर विद्या निकेतन
भदैनी, वाराणसी
१९८६

प्रकाशक :
किशोर विद्या निकेतन
बी २/२३६ ए० भदैनी वाराणसी

●

●

प्रथम संस्करण १९८६

●

मूल्य : १०/-

●

मुद्रक :
धर्मराज प्रिंटिंग प्रेस
एस० २६।९३ मीरापुर बसहीं,
वाराणसी।

सदा जयति श्रीगुरुः

तत्त्व-दर्शन

विश्व का मूल कारण क्या है? मैं कौन हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान ही तत्त्व-दर्शन है, और उस समाधान का अनुसन्धान ही परम पुरुषार्थ तथा मानव जीवन की सफलता है; क्योंकि तत्त्व-बोध से भव-बन्धन को काटने के लिए ही मानव-शरीर मिला है। जिसने मननशील इस शरीर से तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया, उसने बड़ी हानि की। जैसा कि उपनिषद् का कथन है—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः[1]।"

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि अपने वास्तविक स्वरूप को जान ले, तो सत्य-स्वरूप ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाय, और यदि विषय-वासनाओं में उलझकर अपने आपको न समझ पावे तो उसकी बड़ी क्षति हुई। इसलिए अपने सत्य-स्वरूप मूलतत्त्व का साक्षात्कार ही इस अनित्य शरीर का परम लक्ष्य है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी है कि—

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥[2]

अर्थात् हमलोग इस मनुष्य लोक में रहते हुए परब्रह्म परमात्म-तत्त्व को जानते हैं, तो बड़ा लाभ है, और यदि नहीं जानते हैं, तो बड़ी हानि है। जो मनुष्य उस तत्त्व को जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं और जो नहीं जानते, वे दुःख प्राप्त करते हैं। इसलिए तत्त्व को न जानने वाले को तत्त्ववेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य ने कृपण कहा है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।'[3]

१—के० उ. २।५।
२—बृ. उ. ४।४।१४।
३—बृ. उ. ३।८।१०।

अर्थात् हे गार्गी ! जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है, उस अक्षर-तत्त्व-परब्रह्म को बिना जाने जो इस लोक से प्रस्थान कर जाता है, वह कृपण है और जो उस तत्त्व को जानकर इस लोक से जाता है, वह ब्राह्मण है, क्योंकि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। उसका भव-बन्धन छूट जाने से, पुनः वह माया की परिधि में नहीं पड़ता। अतः अक्षर तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है।

उस अक्षर तत्त्व को जानने के लिए भारतीय वाङ्मय में चौदह विद्याएँ हैं, जिनमें पुराण विद्या का स्थान पहला है। जैसा कि—

पुराण-न्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥[२]

इस श्लोक में स्पष्ट है। इन चौदह विद्याओं के द्वारा ही धार्मिक-व्यवहार का ज्ञान तथा पारमार्थिक-तत्त्व का बोध होता है। वायु और मत्स्य पुराण में भी पुराणविद्या की प्राथमिकता का उल्लेख इस प्रकार है—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥[३]

अर्थात् ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों में पुराण विद्या का स्मरण सबसे पहले किया। इसके बाद अपने आप उनके मुखसे-वेद प्रकट हो गये। वेद विद्या की अपेक्षा पुराण विद्या के प्रथम स्मरण का प्रधान कारण यह है, कि पुराण विद्या सुहृत् सम्मित उपदेश है। जैसे कोई सुहृत् अपने मित्र की भलाई के लिए कहता है, कि जीवों पर दया करने से तुम्हारा लोक-परलोक दोनों बनेगा और जीव हिंसा से पाप लगेगा तथा पतन होगा। इसलिए तुम्हें अच्छा काम करना चाहिये, बुरा नहीं। उसी प्रकार पुराण विद्या भी शुभा शुभ कर्मों के फलस्वरूप पुण्य और पाप को दृष्टान्त रूप से प्रस्तुत करती हुई प्राणी को सन्मार्ग की ओर लगाती है। वेदोपदेश तो राजा की आज्ञा है। इसलिए उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। स्वाभाविक प्रवृत्ति न होने में मूल कारण है,

२—याज्ञवल्क्यस्मृति १।३।
३—वा० पु० अ० १ श्लोक ६१।
मत्स्य पु० अ० ५३, श्लोक ३,

दृष्ट-फल का अभाव। "प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिये" (अहरहः सन्ध्यामुपासीत) इस वेद-वचन में 'क्यों' का प्रश्न नहीं होता, क्योंकि प्रभु की आज्ञा है, इसलिए न करने से दण्ड मिलेगा, और करने से कोई पुण्य नहीं, किन्तु साधारण मनुष्य भी बिना प्रयोजन कोई काम नहीं करता, मानव की इस फलोन्मुखी मनोवृत्ति को लक्ष्य में रखकर ब्रह्मा ने पुराण-विद्या का सबसे पहले स्मरण किया। क्योंकि राजा की आज्ञा टल सकती है, पर हितैषी पुराण मित्र की बात टाली नहीं जा सकती। उससे जीवन के व्यावहारिक विकास का सन्मार्ग मिलता है। अस्तु !

पुराणों में विष्णु-पुराण का एक विशेष स्थान है। जिसमें सृष्टि का क्रम तो सांख्यदर्शन के समान है। सांख्य-दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं, जो अव्यक्त, व्यक्त और ज्ञ के नाम से विभक्त है।

इनमें अव्यक्त—मूल प्रकृति है, जिसका निर्वचन संभव नहीं, अतः वह अनिर्वचनीय है, जिसकी माया, अविद्या, अज्ञान आदि संज्ञाएँ हैं। उसकी अव्यक्त अवस्था का कारण है सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था। जिसे प्रलय कहा जाता है। और गुणों की विषमता ही सृष्टि है। सृष्टि का आरम्भ महत्तत्त्व (बुद्धि) से होता है। सबसे पहले मूल प्रकृति से महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-ये पांच तन्मात्राएँ तथा मन एवं दस इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। फिर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-इन पाँच तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार महत्तत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व तक तेईस तत्त्वों का उपादान कारण मूलप्रकृति है। उसका कोई उपादान कारण नहीं है। इसलिए उसे मूलप्रकृति कहा जाता है। उसके अतिरिक्त महत्तत्त्व, अहङ्कार तथा पूर्वोक्त पाँच तन्मात्राएँ— ये सात प्रकृति-विकृति हैं और स्वयं दूसरे को पैदा करते हैं। इनसे पैदा होने वाले दस इन्द्रियाँ, मन, और पाँच महाभूत—ये सोलह हैं, जो दूसरे को पैदा नहीं करते। इसलिए इनका एक नाम विकार भी है। इन चौबीस तत्त्वों के अलावा एक निराला तत्त्व है ज्ञ—जानने वाला, जो न तो किसी को पैदा करता और न किसी से पैदा होता है। केवल द्रष्टा है। उसकी ही देख-रेख में विश्व-प्रपञ्च बनता बिगड़ता रहता है।

मूलतः वही एक सत्य तत्त्व है, प्रकृति, माया या अविद्या तो अनादि होते हुए भी सान्त है। सनातन-तत्त्व, जिसे उपनिषदें ब्रह्म

कहती हैं, वह तो अनादि और अनन्त है। उसकी सत्ता से ही जगत्-प्रपञ्च सत्य के समान भासित होता है। उस मूलतत्त्व के साक्षात्कार होने पर तो विश्व-प्रपञ्च भी ब्रह्म हो जाता है। जैसे अन्धेरे में अज्ञान के कारण रस्सी को साँप समझने वाले व्यक्ति को यदि प्रकाश से रस्सी का ज्ञान हो जाय, तो उसे रस्सी ही दिखाई देती है, साँप नहीं। उसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार-तत्त्व अखण्ड-ज्ञान की अनुभूति में "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" की प्रतीति होने लगती है। अस्तु !

पुराण काल में वह निराकार ब्रह्मतत्त्व शिव, शक्ति, गणेश, विष्णु सूर्य आदि नामों से साकार रूप में व्यवहृत हुआ है। केवल नाम और रूप का भेद है। मूलतः तत्त्व तो एक ही है। मनुष्य की रुचियों के अनुकूल एक ही तत्त्व की नानारूपों में व्याख्या हुई है।

विष्णु-पुराण में उस व्यापक चिन्मय ब्रह्मतत्त्व को विष्णु शब्द से कहा गया है। विष्णुपद की—"वेवेष्टि-व्याप्नोति विश्वं यः सः" इस व्युत्पत्ति से भी व्यापक तत्त्व की ही प्रतीति होती है। विष्णुपद की दूसरी व्युत्पत्ति यह भी है, कि 'विशति सर्वभूतानि यः' 'विशन्ति सर्वभूतानि अत्र' अर्थात् जो सब भूतों में विद्यमान है या सभी भूत जिसमें हैं। जैसा कि विष्णु-पुराण में ही कहा गया है—

यस्माद्विष्टमिदं विश्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्सा प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥[1]

अर्थात् यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मतत्त्व की शक्ति से व्याप्त है, अतः वह शक्ति विष्णु है, क्योंकि 'विश' धातु का अर्थ प्रवेश करना है। इसीलिए देवता तथा देवेश इन्द्र, मनु, मनुपुत्र एवं सप्तर्षि—ये सब विष्णु की ही विभूतियाँ कही गयीं हैं—

सर्वे च देवा मनवस्समस्ता-
स्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः ॥[2]

इससे स्पष्ट है, कि विश्व का मूलाधारतत्त्व एक ही है, और वही अपनी स्वाभाविक शक्ति के कारण मूर्त्त-रूप में जगत् भी है, क्योंकि

१—वि० पु० ३।१।४५।

२—वि० पु० ३।१।४६।

सशक्तिक ब्रह्म ही सक्रिय हो सकता है। अन्यथा चिन्मय निराकार ब्रह्म में प्रवेश और निर्गमन रूप क्रिया संगत नहीं होती। इसीलिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥[1]

अर्थात् शरीर और इन्द्रिय रहित उस ब्रह्म के समान तथा उससे बढ़कर दूसरा कोई तत्त्व दिखाई नहीं देता। उसकी स्वाभाविक पराशक्ति ही ज्ञानक्रिया और बलक्रिया के रूप में सुनी जाती है। ज्ञानक्रिया से सभी विषयों की जानकारी और बलक्रिया से सभी पदार्थों का नियमन होता है। ये दोनों ब्रह्म और ज्ञान बलक्रियारूप पराशक्ति जल-तरंग के समान एक ही है. दो नहीं। जैसे जल के अतिरिक्त तरङ्ग की स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं उसी तरह ब्रह्म की शक्ति भी ब्रह्म में ही आश्रित है। इसलिए यह ब्रह्माण्ड भी ब्रह्म का ही मूर्त्त रूप है। मूर्त्त और अमूर्त्त भेद से ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं, किन्तु मूर्त्त रूप जगत् गतिशील तथा नश्वर है और अमूर्त्त चिन्मय रूप स्थिर एवं नित्य-सत्य। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है—

"द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यं च॥"[2] यही बात विष्णु पुराण में भी है—

द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्त्तं चामूर्त्तमेव च।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते॥
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्।
एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्॥[3]

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म का ही शक्तिरूप है। ब्रह्म-विष्णु एक ही हैं। इस लिए "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" के समान—

१—श्वेता० उ० ६।८।
२—बृहदा० उ० २।३।१।
३—वि० पु० १।२२।५५-५६।

प्रहर्क्षतारकाचित्रंगगनाग्निजलानिलाः ।
अहं च विषयाश्चैव सर्वं विष्णुमयं जगत् ।।[१]

कहा गया है ।

इस विश्वरूप विष्णु की उपपत्ति के लिए उनके आभूषण तथा आयुधों को भी विष्णु पुराण में तत्त्व रूप से निर्देश किया गया है ।[२] जैसा कि—क्षेत्रज्ञ-कौस्तुभ मणि, बुद्धि-गदा, भूतों का उपादान कारण तामस अहंकार-शंख, इन्द्रियों का उपादान कारण राजस अहंकार—शार्ङ्ग धनुष, तथा मन का उपादान कारण सात्त्विक अहंकार—चक्र है । एवं मुक्ता, माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील और हीरकमयी-भगवान् की बैजयन्ती माला पञ्चतन्मात्राओं तथा पञ्चमहाभूतों का प्रतीक रूप है । इस प्रकार निराकार श्री हरि भगवान् विष्णु प्राणियों के कल्याण के लिए माया रूप से सृष्टि के इन सब तत्त्वों को अस्त्र और भूषण के रूप में धारण करते हैं—

अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः ।
बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः ।।

विष्णु पुराण में इस तरह के अनेक तात्त्विक पद्यरत्न विद्यमान हैं । जिनमें केवल १०८ पद्यरत्न यहाँ संगृहीत हैं । इस माला को हृदय में धारण करने से अपना तथा जगत् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान अवश्य होगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है ।

किशोर विद्या निकेतन के संचालक, तत्त्व जिज्ञासु श्री नन्द किशोर द्विवेदी महोदय ने इसे सहर्ष प्रकाशित कर दिया । अतः वे विशेष धन्य वाद के पात्र हैं ।

चैत्रकृष्ण-बुधाष्टमी
वि० सं० २०४२

रामाधीन चतुर्वेदी
२-४-१९८६ई०

१—वि०. पु० ५।१।१९ ।

२—विष्णु पुराण १ अंश २२ अ० के श्लोक ६८ से ७६ तक ।

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

विष्णुपुराण-तत्त्वदर्शन

विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।
स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः ॥१॥

यह जगत् विष्णु से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा यह जगत् भी वे ही हैं ॥१॥

सर्गस्थितिविनाशानां जगतो यो जगन्मयः ।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने ॥२॥

जो विश्वरूप प्रभु विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के मूल-कारण हैं, उन परमात्मा विष्णु भगवान् को नमस्कार है ॥२॥

सर्वत्राऽसौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥३॥

वह सर्वत्र है और उसमें समस्त विश्व बसा हुआ है—इसलिए ही विद्वान् उसको वासुदेव कहते हैं ॥३॥

तद्ब्रह्मपरमं नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
एकस्वरूपं तु सदा हेयाभावाच्च निर्मलम् ॥४॥

वह नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय तथा एकरूप होने और हेय गुणों के अभाव के कारण निर्मल ब्रह्म है ॥४॥

तदेव सर्वमेवैतद्व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत् ।

तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम् ॥५॥

वही इन सब व्यक्त-कार्य और अव्यक्त-कारण जगत् के रूप से, तथा इसके साक्षी पुरुष और महाकारण काल के रूप से स्थित है ॥५॥

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज ।

व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम् ॥६॥

हे द्विज ! परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है, अव्यक्त-प्रकृति और व्यक्त—महदादि उसके अन्य रूप हैं। तथा सबको क्षोभित करने वाला होने से काल उसका परमरूप है ॥६॥

प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत् ।

पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥७॥

इस प्रकार जो प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल इन चारों से परे है तथा जिसे पण्डितजन ही देख पाते हैं वही भगवान् विष्णु का विशुद्ध परम पद है ॥७॥

प्रधानपुरुषव्यक्तकालास्तु प्रविभागशः ।

रूपाणि स्थितिसर्गान्तव्यक्तिसद्भावहेतवः ॥८॥

प्रधान, पुरुष, व्यक्त और काल—ये भगवान् विष्णु के रूप पृथक्-पृथक् संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार के प्रकाश तथा उत्पादन में कारण हैं ॥८॥

व्यक्तं विष्णुस्तथाव्यक्तं पुरुषः काल एव च ।

क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ॥९॥

भगवान् विष्णु व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और कालरूप भी हैं; इस प्रकार बालवत् क्रीडा करते हुए उन भगवान् की लीला श्रवण करो ॥९॥

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि-
र्नासीत्तमोज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं
प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥१०॥

प्रलय काल में न दिन था, न रात्रि थी, न आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न इनके अतिरिक्त कुछ और ही था। बस, श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ब्रह्म पुरुष ही था ॥१०॥

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः ।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥११॥

हे ब्रह्मन् ! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है उसका सर्गादि का कर्ता होना कैसे माना जा सकता है ॥११॥

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्यभावशक्तयः ॥१२॥

हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेय ! समस्त भाव-पदार्थों की शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञान की विषय होती है ॥१२॥

भवतो यत्परं तत्वं तन्न जानाति कश्चन ।
अवतारेषु यद्रूपं तदर्चन्ति दिवौकसः ॥१३॥

हे प्रभो ! आप का जो परतत्व है, उसे तो कोई भी नहीं जानता; अतः आप का जो रूप अवतारों में प्रकट होता है, उसी की देवगण पूजा करते हैं ॥१३॥

त्वामाराध्य परं ब्रह्म याता मुक्तिं मुमुक्षवः ।
वासुदेवमनाराध्य को मोक्षं समवाप्स्यति ॥१४॥

आप परब्रह्म की ही आराधना करके मुमुक्षुजन मुक्त होते हैं। भला वासुदेव की आराधना किए बिना कौन मोक्ष प्राप्त कर सकता है ? ॥१४॥

यत्किञ्चिन्मनसा ग्राह्यं यद्ग्राह्यं चक्षुरादिभिः ।
बुद्धया च यत्परिच्छेद्यं तद्रूपमखिलं तव ॥१५॥

मन से जो कुछ ग्रहण किया जाता है, चक्षु आदि इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण करने योग्य है तथा बुद्धि द्वारा जो कुछ विचारणीय है वह सब आप ही का रूप है ॥१५॥

त्वं वेदास्त्वं तदङ्गानि त्वं यज्ञपुरुषो हरे ।
सूर्यादयो ग्रहास्तारा नक्षत्राण्यखिलं जगत् ॥१६॥

हे हरे ! आप ही वेद, वेदाङ्ग और यज्ञपुरुष हैं तथा सूर्य आदि ग्रह, तारे, नक्षत्र और संपूर्ण जगत् भी आप ही हैं ॥१६॥

परमार्थस्त्वमेवैको नान्योऽस्ति जगतः पते ।
तवैष महिमा येन व्याप्तमेतच्चराचरम् ॥१७॥

हे जगत्पते ! परमार्थ तो एकमात्र आप ही हैं, आपके अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। यह आप की ही महिमा है जिससे यह संपूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है ॥१७॥

यदेतद् दृश्यते मूर्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव ।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः ॥१८॥

यह जो कुछ भी मूर्तिमान् जगत् दिखाई देता है ज्ञानस्वरूप आप ही का रूप है। अजितेन्द्रिय लोग भ्रम से इसे जगत् रूप देखते हैं ॥१८॥

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसम्प्लवे ॥१९॥

इस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप जगत् को बुद्धिहीन लोग अर्थ रूप देखते हैं अतः वे निरन्तर मोहमय संसारसागर में भटका करते हैं ॥१९॥

ये तु ज्ञानविदः शुद्धचेतसस्तेऽखिलं जगत् ।
ज्ञानात्मकं प्रपश्यन्ति त्वद्रूपं परमेश्वर ॥२०॥

हे परमेश्वर ! जो लोग शुद्धचित्त और विज्ञानवेत्ता हैं वे इस सम्पूर्ण संसार को आप का ज्ञानात्मक स्वरूप ही देखते हैं ॥२०॥

विशुद्धबोधवन्नित्यमजमक्षयमव्ययम् ।
अव्यक्तमविकारं यत्ताद्विष्णोः परमं पदम् ॥२१॥

जो विशुद्ध बोधस्वरूप, नित्य, अजन्मा, अक्षय, अव्यय, अव्यक्त और अविकारी है वही विष्णु का परम पद है ॥२१॥

परं ब्रह्म परं धाम योऽसौ ब्रह्म तथा परम् ।
तमाराध्य हरिं याति मुक्तिमप्यतिदुर्लभाम् ॥२२॥

जो परब्रह्म परमधाम और परस्वरूप हैं उन हरि की आराधना करने से मनुष्य अति दुर्लभ मोक्ष पद को भी प्राप्त कर लेता है ॥२२॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
भूतादिरादिप्रकृतिर्यस्य रूपं नतोऽस्मि तम् ॥२३॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि अहंकार और मूलप्रकृति—ये सब जिनके रूप हैं उन भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं ॥२३॥

यथा हि कदली नान्या त्वक्पत्रादपि दृश्यते ।
एवं विश्वस्य नान्यस्त्वं त्वत्स्थायीश्वर दृश्यते ॥२४॥

हे ईश्वर ! जिस प्रकार केले का पौधा छिलके और पत्तों से अलग दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जगत् से आप पृथक् नहीं हैं, वह आप ही में स्थित देखा जाता है ॥२४॥

सर्वस्मिन्सर्वभूतस्त्वं सर्वः सर्वस्वरूपधृक् ।
सर्वं त्वत्तस्ततश्च त्वं नमः सर्वात्मनेऽस्तु ते ॥२५॥

सब में आप ही सर्वभूत अर्थात् उनके गुण रूप हैं; समस्त रूपों को धारण करने वाले सब कुछ आप ही हैं, सब कुछ आप ही से हुआ है; अत एव सबके द्वारा आप ही हो रहे हैं, इसलिए आप को नमस्कार है ॥२५॥

सर्वात्मकोऽसि सर्वेश सर्वभूतस्थितो यतः ।
कथयामि ततः किं ते सर्वं वेत्सि हृदि स्थितम् ॥२६॥

हे सर्वेश्वर ! आप सर्वात्मक हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त हैं; अतः मैं आप से क्या कहूँ ? आप स्वयं ही सब हृदयस्थित बातों को जानते हैं ॥२६॥

न शब्दगोचरं यस्य योगिध्येयं परं पदम् ।
यतो यश्च स्वयं विश्वं स विष्णुः परमेश्वरः ॥२७॥

योगियों के ध्यान करने योग्य जिसका परमपद वाणी का विषय नहीं हो सकता तथा जिससे विश्व प्रकट हुआ है और जो स्वयं विश्वरूप है वह परमेश्वर ही विष्णु है ॥२७॥

यतः प्रधानपुरुषौ यतश्चैतच्चराचरम् ।
कारणं सकलस्यास्य स नो विष्णुः प्रसीदतु ॥२८॥

जिनसे प्रधान, पुरुष और यह चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है वे सकल प्रपञ्च के कारण श्रीविष्णु भगवान् हम पर प्रसन्न हों ॥२८॥

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान् मूढ़ो भविता नरकेऽप्यसौ ॥२९॥

यदि किसी मूढ़ पुरुष की मांस, रुधिर, पीब, विष्ठा, मूत्र, स्नायु, मज्जा और अस्थियों के समूह रूप इस शरीर में प्रीति हो सकती है तो उसे नरक भी प्रिय लग सकता है ॥२९॥

विस्तारः सर्वभूतस्य विष्णोः सर्वमिदं जगत् ।
द्रष्टव्यमात्मवत्तस्मादभेदेन विचक्षणैः ॥३०॥

यह सम्पूर्ण जगत् सर्वभूतमय भगवान् विष्णु का विस्तार है, अतः विचक्षण पुरुषों को इसे अभेदरूपसे आत्मवत् देखना चाहिए ॥३०॥

त्वय्यस्ति भगवान् विष्णुर्मयि चान्यत्र चास्ति सः
यतस्ततोऽयं मित्रं मे शत्रुश्चेति पृथक्कुतः ॥३१॥

श्रीविष्णुभगवान् तो आप में, मुझमें और अन्यत्र भी सभी जगह वर्तमान हैं, फिर 'यह मेरा मित्र है और यह शत्रु है' ऐसे भेद भाव को स्थान ही कहाँ ? ॥३१॥

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥३२॥

कर्म वही है जो बन्धन का कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्ति की साधिका हो । इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रमरूप तथा अन्य विद्याएँ कलाकौशलमात्र ही हैं ॥३२॥

देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः ।
रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम् ॥३३॥

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और सरीसृप--ये सब भगवान् विष्णु से भिन्न से स्थित हुए भी वास्तव में श्रीअनन्त के ही रूप हैं ॥३३॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥३४॥

गो-ब्राह्मण-हितकारी ब्रह्मण्यदेव भगवान् कृष्णको नमस्कार है । जगत्-हितकारी श्रीगोविन्द को बार-बार नमस्कार है ॥३४॥

सर्वभूतेषु सर्वात्मन्या शक्तिरपरा तव ।
गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर ॥३५॥

हे सर्वात्मन् ! समस्त भूतों में जो आप की गुणाश्रया पराशक्ति है, हे सुरेश्वर ! उस नित्यस्वरूपिणी को नमस्कार है ॥३५॥

यातीतगोचरा वाचां मनसां चाविशेषणा ।
ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या तां वन्दे स्वेश्वरीं पराम् ॥३६॥

जो वाणी और मन से परे हैं, विशेषणरहित तथा ज्ञनियों के ज्ञान से परिच्छेद्य है, उस स्वतन्त्रा पराशक्ति की मैं वन्दना करता हूं ॥३६॥

ॐ नमो वासुदेवाय तस्मै भगवते सदा ।
व्यतिरिक्तं न यस्यास्ति व्यतिरिक्तोऽखिलस्य यः ॥३७॥

ॐ स्वरूप भगवान् वासुदेव को सदा नमस्कार है, जिनसे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है तथा जो स्वयं सबसे अतिरिक्त है ॥३७॥

नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै महात्मने ।
नाम रूपं न यस्यैको योऽस्तित्वेनोपलभ्यते ॥३८॥

जिनका कोई भी नाम अथवा रूप नहीं है और जो अपनी सत्ता मात्र से ही उपलब्ध होते हैं, उन महात्मा को नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है ॥३८॥

ॐ नमो विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः ।
यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः ॥३९॥

उन विष्णुभगवान् को नमस्कार है, उन्हें बारम्बार नमस्कार है जिनमें सब कुछ स्थिर है, जिनसे सब उत्पन्न हुआ है और जो स्वयं सबकुछ तथा सबके आधार हैं ॥३९॥

सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः ।
मत्तः सर्वमहं सर्वं मयि सर्वं सनातने ॥४०॥

भगवान अनन्त सर्वगामी हैं, अतः वे ही मेरे रूप से स्थित हैं, इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् मुझ ही से हुआ है, मैं ही यह सब कुछ हूं और मुझ सनातन में ही यह सब स्थित है ॥४०॥

अहमेवाक्षयो नित्यः परमात्मात्मसंश्रयः ।
ब्रह्मसंज्ञोऽहमेवाग्रे तथान्ते च परः पुमान् ॥४१॥

मैं ही अक्षय, नित्य और आत्माधार परमात्मा हूँ; तथा मैं ही जगत् के आदि और अन्त में स्थित ब्रह्मसंज्ञक परमपुरुष हूँ ॥४१॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥४२॥

अविवेकी पुरुषों की विषयों में जैसी अविचल प्रीति होती है वैसी ही आप का स्मरण करते हुए मेरे हृदय से कभी दूर न हो ॥४२॥

चतुर्विभागः संसृष्टौ चतुर्धा संस्थितः स्थितौ ।
प्रलयं च करोत्यन्ते चतुर्भेदो जनार्दनः ॥४३॥

वे जनार्दन चार विभाग से सृष्टि के और चार विभाग से ही स्थिति के समय रहते हैं, तथा चार रूप धारण करके ही अन्त में प्रलय करते हैं ॥४३॥

एकेनांशेन ब्रह्मासौ भवत्यव्यक्तमूर्तिमान् ।
मरीचिमिश्राः पतयः प्रजानां चान्यभागशः ॥४४॥

वे अव्यक्त स्वरूप भगवान् अपने एक अंश से ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं ॥४४॥

कालस्तृतीयस्तस्यांशः सर्वभूतानि चापरः ।
इत्थं चतुर्धा संसृष्टौ वर्ततेऽसौ रजोगुणः ॥४५॥

उनका तीसरा अंश काल है और चौथा सम्पूर्ण प्राणी। इस प्रकार वे रजोगुणविशिष्ट होकर चार प्रकार से सृष्टि के समय स्थित होते हैं ॥४५॥

काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैतद्वपुर्विष्णोर्महात्मनः ॥४६॥

समस्त काव्यचर्चा और राग-रागिनी आदि जो कुछ भी हैं। वे सब शब्दमूर्तिधारी परमात्मा विष्णु का ही शरीर है ॥४६॥

अहं हरिः सर्वमिदं जनार्दनो
नान्यत्ततः कारणकार्यजातम् ।
ईदृङ्मनो यस्य न तस्य भूयो
भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भवन्ति ॥४७॥

मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् जनार्दन श्रीहरि ही हैं; उनसे भिन्न और कुछ भी कार्य-कारणादि नहीं हैं, जिसके चित्त में ऐसी भावना है उसे फिर देहजन्य राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप रोग की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४७॥

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते ।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम् ॥४८॥

वस्तुतः ज्ञान ही परब्रह्म है और वही अविद्या की उपाधि से बन्धन का कारण है। यह संम्पूर्ण विश्व ज्ञानमय ही है; ज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु नहीं है ॥४८॥

स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत् ।
जगच्च यो यत्र चेदं यस्मिश्च लयमेष्यन्ति ॥४९॥

जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं जगत्-रूप से स्थिर है, जिसमें यह स्थित है तथा जिसमें यह लीन हो जायगा। वह परब्रह्म ही विष्णुभगवान् हैं ॥४९॥

स एवमूलप्रकृतिर्व्यक्तरूपी जगच्च सः ।
तस्मिन्नेव लयं सर्वं याति तत्र च तिष्ठति ॥५०॥

वही अव्यक्त मूलप्रकृति है, वही व्यक्तरूप संसार है, उसी में यह सम्पूर्ण जगत् लीन होता है, तथा उसी के आश्रय स्थित है ॥५०॥

अङ्गमेषा त्रयो विष्णोर्ऋग्यजुः सामसंज्ञिता ।
विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा ॥५१॥

यह ऋक-यजुः सामस्वरूपिणी वेदत्रयी भगवान् विष्णु का ही अङ्ग है। यह विष्णु-शक्ति सर्वदा आदित्य में रहती है ॥५१॥

ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-
वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।
नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं
यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य ॥५२॥

हे विप्रवर्य ! तारागण, त्रिभुवन, वन, पर्वत, दिशाएँ, नदियाँ और समुद्र सभी भगवान् विष्णु ही हैं, तथा और जो भी कुछ है अथवा नहीं है, वह सब भी एकमात्र वे ही हैं ॥५२॥

ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा-

वशेषमूर्तिर्न तु वस्तुभूतः ।

ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा-

ञ्जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि ॥५३॥

क्योंकि भगवान् विष्णु ज्ञानस्वरूप हैं इसलिए वे सर्वमय हैं, परिच्छिन्न पदार्थाकार नहीं हैं। अतः इन पर्वत, समुद्र और पृथ्वी आदि भेदों को तुम एकमात्र विज्ञान का ही विलास जानो ॥५३॥

ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-

मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।

एकं सदेकं परमः परेशः

स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥५४॥

वह विज्ञान अति विशुद्ध, निर्मल, निःशोक और लोभादि समस्त दोषों से रहित है। वही एक सत्स्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव हैं, जिसके पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है ॥५४॥

सर्वविज्ञानसम्पन्नः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ।

अपश्यत् स च मैत्रेय आत्मानं प्रकृतेः परम् ॥५५॥

हे मैत्रेय ! वह सर्वविज्ञान सम्पन्न और समस्त शास्त्रों के मर्म को जाननेवाला था, तथा अपने आत्मा को निरन्तर प्रकृति से परे देखता था ॥५५॥

आत्मनोऽधिगतज्ञानो देवादीनि महामुने ।

सर्वभूतान्यभेदेन स ददर्श तदात्मनः ॥५६॥

हे महामुने ! आत्मज्ञान-सम्पन्न होने के कारण वह देवता आदि सम्पूर्ण प्राणियों को अपने से अभिन्नरूप से देखता था ॥५६॥

यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः ।
तदा हि को भवान् सोऽहमित्येतद्विफलं वचः ॥५७॥

जब समस्त शरीर में एक ही आत्मा विराजमान है, तब आप कौन हैं ? मैं वह हूँ' ये सब वाक्य निष्फल ही हैं ।।५७।।

समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूय व्यवस्थितः ।
कोऽहमित्यत्र निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥५८॥

हे पृथिवीश्वर ! तू इन समस्त अवयवों से पृथक् है, अतः सावधान होकर विचार करो कि 'मैं कौन हूँ' ? ।।५८।।

आत्मा ध्येयः सदा भूप योगयुक्तैस्तथा परम् ।
श्रेयस्तस्यैव संयोगः श्रेयो यः परमात्मनः ॥५९॥

हे राजन ! योगयुक्त पुरुषों को प्रकृति आदि से अतीत उस आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए; क्योंकि उस परमात्मा का संयोगरूप श्रेय ही वास्तविक श्रेय है ।।५९।।

पुमान् सर्वगतो व्यापी आकाशवदयं यतः ।
कुतः कुत्र क्व गन्तासीत्येतदप्यर्थवत्कथम् ॥६०॥

आत्मा सर्वगत है; क्योंकि यह आकाश के समान व्यापक है; अतः कहाँ से आये हो ? कहाँ रहते हो ? और कहाँ जाओगे ? यह कथन भी कैसे सार्थक हो सकता है ।।६०।।

सोऽहं गन्ता न चागन्ता नैकदेशनिकेतनः ।
त्वं चान्ये च न च त्वं च नान्ये नैवाहमप्यहम् ॥६१॥

मैं तो न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ और न किसी एक स्थान पर रहता हूँ । वस्तुतः तू, तू नहीं है । अन्य, अन्य नहीं है और मैं, मैं नहीं हूँ ।।६१।।

मृण्मयं हि गृहं यद्वन्मृदा लिप्तं स्थिरं भवेत् ।

पार्थिवोऽयं तथा देहः पार्थिवैः परमाणुभिः ॥६२॥

जिस प्रकार मिट्टी का घर मिट्टी से लीपने-पोतने से दृढ होता है, उसी प्रकार यह पार्थिव देह पार्थिव अन्न के परमाणुओं से पुष्ट हो जाता है ॥६२॥

एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत् ।

वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः ॥६३॥

इस परमार्थ तत्त्व का विचार करते हुए तू इस सम्पूर्ण जगत् को एक वासुदेव परमात्मा ही का स्वरूप जान, इसमें भेद-भाव बिल्कुल नहीं है ॥६३॥

एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चि-

त्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।

सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-

दात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥६४॥

इस संसार में जो कुछ है वह सब एक आत्मा ही है और वह अविनाशी है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है; मैं तू और ये सब आत्मस्वरूप ही हैं, अतः भेद-ज्ञान रूप मोह को छोड़ ॥६४॥

सकलमिदमहं च वासुदेवः

परमपुमान् परमेश्वरस्स एकः ।

इति मतिरचला भवत्यनन्ते

हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात् ॥६५॥

यह सकल प्रपंच और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही है, हृदय में भगवान् अनन्त के स्थित होने से जिनकी ऐसी स्थिर बुद्धि हो गयी हो, "हे यमदूत !" उन्हें तुम दूर ही से छोड़कर चले जाना ॥६५॥

न जातु कामः कामानुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥६६॥

भोगों की तृष्णा उनके भोगने से कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृताहुति से अग्नि के समान वह बढ़ती ही जाती है ॥६६॥

यत्पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत् ॥६७॥

सम्पूर्ण पृथिवी में जितने भी धान्य, यव, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्य के लिए भी संतोषजनक नहीं हैं, इसलिए तृष्णा को सर्वथा त्याग देना चाहिए ॥६७॥

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः।
धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यतः ॥६८॥

अवस्था के जीर्ण होने पर केश और दाँत तो जीर्ण हो जाते हैं किन्तु जीवन और धनकी आशाएँ उसके जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होतीं ॥६८॥

समुद्रावरणं याति भूमण्डलमथो वशम्।
कियदात्मजयस्यैतन्मुक्तिरात्मजये फलम् ॥६९॥

यदि समुद्र से घिरा हुआ यह सम्पूर्ण भूमण्डल अपने वश में हो ही जाय तो भी मनोजय के सामने इसका मूल्य भी क्या है? क्योंकि मोक्ष तो मनोजय से ही प्राप्त होता है ॥६९॥

उत्सृज्य पूर्वजा याता यां नादाय गतः पिता ।
तां मामतीवमूढ़त्वाज्जेतुमिच्छन्ति पार्थिवाः ॥७०॥

जिसे छोड़कर इनके पूर्वज चले गए तथा जिसे अपने साथ लेकर इनके पिता भी नही गये । उसी मुझ पृथिवी को अत्यन्त मूर्खता के कारण ये राजा लोग जीतना चाहते हैं ॥७०॥

ग्रहर्क्षतारकाचित्रगगनाग्निजलानिलाः ।
अहं च विषयाश्चैव सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥७१॥

ग्रह, नक्षत्र तथा तारागणों से चित्रित, आकाश अग्नि, जल, वायु मैं और इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषय—यह सारा जगत् विष्णुमय ही हैं ॥७१॥

तथाप्यनेकरूपस्य तस्य रूपाण्यहर्निशम् ।
बाध्यबाधकतां यान्ति कल्लोला इव सागरे ॥७२॥

तथापि इन अनेक-रूपधारी विष्णु के ये रूप समुद्र की तरंगों के समान रात-दिन एक दूसरे के बाध्य-बाधक होते रहते हैं ॥७२॥

ॐ नमो वासुदेवाय नमस्संकर्षणाय च ।
प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यमनिरुद्धाय ते नमः ॥७३॥

हे प्रभो ! वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धरूप आप को बारम्बार नमस्कार है ॥७३॥

परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥७४॥

वह परमात्मा सबका आधार और एकमात्र अधीश्वर है; उसी का वेद और वेदान्तों में विष्णु नाम से वर्णन किया गया है ॥७४॥

ज्ञानात्मा ज्ञानयोगेन ज्ञानमूर्तिः स चेज्यते ।
निवृत्ते योगिभिर्मार्गे विष्णुर्मुक्तिफलप्रदः ॥७५॥

निवृत्ति मार्ग में स्थित योगिजन भी उन्हीं ज्ञानात्मा का ज्ञान-स्वरूप मुक्तिफलदायक भगवान् विष्णु का ही ज्ञानयोग द्वारा यजन करते हैं ॥७५॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतैर्यत्तु किञ्चिद्वस्त्वभिधीयते ।
यच्च वाचामविषयं तत्सर्वं विष्णुरव्ययः ॥७६॥

ह्रस्व, दीर्घ और लुप्त इन त्रिविध स्वरों से जो कुछ कहा जाता है, तथा जो वाणी का विषय नहीं है । वह सब भी अव्ययात्मा विष्णु ही है ॥७६॥

व्यक्तस्स एव चाव्यक्तस्स एव पुरुषोऽव्ययः ।
परमात्मा च विश्वात्मा विश्वरूपधरो हरिः ॥७७॥

वह विश्वरूपधारी विश्वरूप परमात्मा श्रीहरि ही व्यक्त, अव्यक्त एवं अविनाशी पुरुष है ॥७७॥

आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते ।
शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ॥७८॥

ज्ञान दो प्रकार का है—शास्त्रजन्य तथा विवेकजन्य । शब्दब्रह्म का ज्ञान शास्त्रजन्य है और परब्रह्म का बोध विवेकज है ॥७८॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥७९॥

ब्रह्म दो प्रकार का है–शब्दब्रह्म और परब्रह्म । शब्दब्रह्म में निपुण हो जाने पर जिज्ञासु परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥७९॥

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि शब्दते ।
मैत्रेय भगवच्छब्दस्सर्वकारणकारणे । ८०॥

हे मैत्रेय ! समस्त कारणों के कारण महाविभूति संज्ञक परब्रह्म के लिए ही 'भगवत्' शब्द का प्रयोग हुआ है ॥८०॥

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥८१॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः का नाम भग है ॥८१॥

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥८२॥

जो समस्त प्राणियों के उत्पत्ति और नाश, आना और जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है वही भगवान् कहलाने योग्य है ॥८२॥

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि ।
भूतेषु च सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥८३॥

उस परमात्मा में ही सब बसते हैं, और वे स्वयं भी सबके आत्मारूप से सकल भूतों में विराजमान हैं, इसलिए उन्हें वासुदेव भी कहते हैं ॥८३॥

स्वाध्यायाद्योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमावसेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥८४॥

स्वाध्याय से योग का और योग से स्वाध्याय का आश्रय करे । इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूप सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं ॥८४॥

पंचभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः ।
अहं ममैतदित्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम् ॥८५

यह कुमति जीव मोह रूपी अंधकार से आहत होकर पंचभूतात्मक देह में 'मैं' और 'मेरापन' का भाव करता है ॥८५॥

आकाशवाय्वग्निजलपृथिभ्यः पृथक् स्थिते ।
आत्मन्यात्ममयं भावं कः करोति कलवरे ॥८६॥

जब कि आत्मा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी आदि से सर्वथा पृथक् है, तो कौन बुद्धिमान् व्यक्ति शरीर में आत्मबुद्धि करेगा ॥८६॥

कलेवरोपभोग्यं हि गृहक्षेत्रादिकं च कः ।
अदेहे ह्यात्मनि प्राज्ञो ममेदमिति मन्यते ॥ण७॥

आत्मा के देह से परे होने पर भी देह के उपभोग्य गृह क्षेत्रादि को कौन प्राज्ञ पुरुष 'अपना' मान सकता है ? ॥८७॥

इत्थं च पुत्रपौत्रेषु तद्देहोत्पादितेषु कः ।
करोति पण्डितस्वात्म्यमनात्मनि कलेवरे ॥८८॥

इस प्रकार इस शरीर के आनात्मा होने से इससे उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्रादि में भी कौन विद्वान् अपनापन करेगा ? ॥८८॥

मृन्मयं हि यथा गेहं लिप्यते वै मृदम्भसा ।
पार्थिवोऽयं तथा देहो मृदम्ब्वालेपनस्थितः ॥८९॥

जिस प्रकार मिट्टी के घर को जल और मिट्टी से लीपते और पोतते हैं। उसी प्रकार यह पार्थिव शरीर भी मृतिका और जल की सहायता से ही स्थिर रहता है ॥८९॥

जलस्य नाग्निसंसर्गः स्थालीसंगात्तथापि हि ।
शब्दोद्रेकादिकान्धर्मांस्तत्करोति यथा नृप ॥९०॥

हे राजन् ! जिस प्रकार स्थाली के जल का अग्नि से संयोग नहीं होता, तथापि स्थाली के संसर्ग से ही उसमें खौलने के शब्द आदि धर्म प्रकट हो जाते हैं ॥९०॥

तथात्मा प्रकृतेस्सङ्गादहम्मानादिदूषितः ।
भजते प्राकृतान्धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः ॥९१॥

उसी प्रकार प्रकृति के संसर्ग से ही आत्मा अहंकारादि से दूषित होकर प्राकृत धर्मों को स्वीकार करता है, वास्तव में तो वह अव्ययात्मा उनसे सर्वथा पृथक् है ॥९१॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥९२॥

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल मन ही है, विषय का संग करने से वह बन्धकारी और विषयशून्य होने से मोक्षकारक होता है ॥९२॥

आत्मभावं नयत्येनं तद्ब्रह्म ध्यायिनं मुनिम् ।
विकार्यमात्मनश्शक्त्या लोहमाकर्षको यथा ॥९३॥

जिस प्रकार अयस्कान्तमणि अपनी शक्ति से लोहे को खींचकर अपने में संयुक्त कर लेता है। उसी प्रकार ब्रह्मचिंतन करनेवाले मुनि को परमात्मा स्वभाव से ही स्वरूप में लीन कर देता है ॥९३॥

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः ।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते ॥९४॥

आत्मज्ञान के प्रयत्नभूत यम, नियम आदि की अपेक्षा रखने वाली जो मन की विशिष्ट गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही 'योग' कहलाता है ॥९४॥

त्रिविधा भावना भूप विश्वमेतन्निबोधताम् ।
ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका ॥९५॥

हे भूप ! इस जगत में ब्रह्म, कर्म और उभयात्मक नाम से तीन प्रकार की भावनाएँ हैं ॥९५॥

कर्मभावात्मिका ह्येका ब्रह्मभावात्मिका परा ।
उभयात्मिका तथैवान्या त्रिविधा भावभावना ॥९६॥

इनमें पहली कार्यभावना, दूसरी ब्रह्मभावना और तीसरी उभयात्मिका भावना कहलाती है । इस प्रकार ये त्रिविध भावनाएं हैं ॥९६॥

सनन्दादयो ये तु ब्रह्मभावनया युताः ।
कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्थावराश्चराः ॥९७॥

सनन्दादिमुनिजन ब्रह्मभाव से युक्त हैं, और देवताओं से लेकर स्थावर-जंगम पर्यन्त समस्त प्राणी कर्म भावनायुक्त हैं ॥९७॥

हिरण्यगर्भादिषु च ब्रह्मकर्मात्मिका द्विधा ।
बोधाधिकारयुक्तेषु विद्यते भावभावना ॥९८॥

बोध और अधिकार से युक्त हिरण्यगर्भादि में ब्रह्मकर्ममयो उभयात्मिका-भावना है ॥९८॥

अक्षीणेषु समस्तेषु विशेषज्ञानकर्मसु ।
विश्वमेतत्परं चान्यद्भेदभिन्नदृशां नृणाम् ॥९९॥

हे राजन् ! जबतक विशेषज्ञान के हेतु कर्म क्षीण नहीं होते, तभी तक अहंकारादि भेद के कारण भिन्न दृष्टि रखने वाले मनुष्यों को ब्रह्म और जगत् की भिन्नता प्रतीत होती है ॥९९॥

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् ।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् ॥१००॥

जिसमें सम्पूर्ण भेद शान्त हो जाते हैं, जो सत्तामात्र और वाणी का अविषय है, तथा स्वयं ही अनुभव करने योग्य है, वही ब्रह्मज्ञान कहलाता है ॥१००॥

तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम् ।
विश्वस्वरूपवैरूप्यालक्षणं परमात्मनः ॥१०१॥

वही परमात्मा विष्णु का अरूप नामक परम रूप है, जो उनके विश्वरूप से विलक्षण है ॥१०१॥

एतत्सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम् ।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोश्शक्तिसमन्वितम् ॥१०२॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु का, उनकी शक्ति से सम्पन्न 'विश्व' नामक रूप है ॥१०२॥

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥१०३॥

विष्णु शक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नाम की तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है ॥१०३॥

एतान्यशेषरूपाणि तस्या रूपाणि पार्थिव ।
यतस्तच्छक्तियोगेन युक्तानि नभसा यथा ॥१०४॥

हे राजन् ! ये सम्पूर्ण रूप उस परमेश्वर के ही शरीर हैं, क्योंकि ये सब आकाश के समान उनकी शक्ति से व्याप्त हैं ॥१०४॥

द्वितीयं विष्णुसंज्ञस्य योगिध्येयं महामते ।
अमूर्तं ब्रह्मणो रूपं यत्सदित्युच्यते बुधैः ॥१०५॥

हे महामते ! विष्णु नामक ब्रह्म का दूसरा अमूर्त रूप हैं, जिसका योगिजन ध्यान करते हैं, और जिसे बुधजन 'सत्' कहकर पुकारते हैं ॥१०५॥

यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः ।
तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ॥१०६॥

जिस प्रकार वायु सहित अग्नि ऊंची ज्वालाओं से युक्त होकर शुष्क तृण समूह को जला डालता है उसी प्रकार चित्त में स्थित हुए भगवान् विष्णु योगियों के समस्त पाप नष्ट कर देते हैं ॥१०६॥

तस्मात्समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः ।
कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा ॥१०७॥

इसलिए सम्पूर्ण शक्तियोंके आधार भगवान् विष्णु में चित्त को स्थित करे, यही शुद्ध धारणा है ॥१०७॥

नान्तोऽस्ति यस्य न च यस्य समुद्भवोऽस्ति
वृद्धिर्न यस्य परिणामविवर्जितस्य ।
नापक्षयं च समुपैत्यविकारी वस्तु
यस्तं नतोऽस्मि पुरुषोत्तममीशमीड्यम् ॥१०८॥

जिन परिणामहीन प्रभु का न आदि है, न अन्त है, न वृद्धि है न क्षय ही होता है। जो नित्य निर्विकार पदार्थ हैं। उन स्तवनीय प्रभु पुरुषोत्तम को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१०८॥

इति विविधमजस्य यस्य रूपं
प्रकृतिपरात्ममयं सनातनस्य ।
प्रदिशतु भगवानशेषपुंसां
हरिरपजन्मजरादिकां स सिद्धिम् ॥१०९॥

इस प्रकार जिन अजन्मा सनातन परमात्मा के प्रकृति-पुरुष स्वरूप अनेक रूप हैं, वे भगवान् विष्णु सभी पुरुषों को जन्म और जरा आदि दुःखों से रहित मुक्तिरूप सिद्धि प्रदान करें ।

विष्णोः स्वरूपविज्ञानं चिन्मयं च जगन्मयम् ।
एकमेवाद्वितीयं तन्नानारूपेण भासते ॥१॥
विष्णुपुराणतस्तत्त्वमेतत्संगृह्य गुम्फितम् ।
मालारूपमिदं धार्यं मुदा विज्ञैः सदा हृदि ॥२॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

●